IJAER/January-February 2024/Volume-13/Issue-1 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research
(Peer-Reviewed, Open Access, Fully Refereed International Journal) Impact Factor:7.06

मध्यकालीन भारत में सामाजिक और आर्थिक जीवन और यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ

Khushboo Chaudhary, M.A. History, (UGC-NET).

Mail.ID: chaudharykhushboo0015@gmail.com

1.1 प्रस्तावना

मध्यकालीन भारत में सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक निरंतरता बनी रही। सल्तनतकालीन परिस्थितियों और मुगलकालीन परिस्थितियों में कोई मौलिक अंतर नहीं था। केवल कुछ आंशिक परिवर्तन आये थे। मुगलकालीन सामाजिक और आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक विस्तृत सूचनाएँ उपलब्ध हैं। नगरीय जीवन के सम्बन्ध में मुख्यतः यूरोपीय यात्रियों के वृतांत, व्यापारिक कम्पनियों के विपन्न, तथा ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध में मुगल प्रशासनिक दस्तावेज इस सूचना की प्राप्ति में सहायक हैं।

मुगलकालीन समाज की संरचना सल्तनतकाल से बहुत भिन्न नहीं थी, सिवाय इसके कि इस काल में जैनों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आये थे, सिक्ख एक नये और महत्वपूर्ण सम्प्रदाय के रूप में उभरे थे और ईसाईयों की संख्या भी बढ़ी थी। उन्हें मुगल दरबार में ज्यादा प्रभाव भी प्राप्त हुआ था। हिन्दू समाज में पूर्ववत् जाति पर आधारित विभाजन बने रहे। भक्ति आन्दोलन के प्रभाव में जाति–प्रथा का खण्डन करने वाले सन्तों का पदार्पण भी हुआ। उनके द्वारा नए सम्प्रदायों की स्थापना भी हुई जिनके सदस्य जाति–प्रथा के सिद्धान्तों को नहीं मानते थे परन्तु इन सबका प्रभाव अत्यन्त सीमित रहा और जाति–प्रथा की जटिलता में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं आई। मुस्लिम समाज का स्वरूप भी पूर्ववत् रहा। केवल विदेशी मुसलमानों में ईरानियों की संख्या और प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। यह प्रक्रिया अकबर के समय में आरम्भ हुई। हब्शियों और अरबों का महत्व पूर्व काल की तुलना में बहुत कम हो गया। 18वीं शताब्दी तक मुगल सामन्तों में दो वर्ग ही मुख्य रूप से महत्वपूर्ण रह गए थे। ये थे भारतीय मुसलमान और तूरानी। इस काल की दरबारी गुटबंदियों और षडयंत्रों में इन दोनों की भूमिका विशेष महत्व रखती है।[1]

1.2 सामाजिक जीवन

समाज में महिलाओं की स्थिति पहले की तुलना में सुधरी थी। मुगल काल में अनेक विदुषी और प्रभावशाली महिलाओं की चर्चा मिलती है, जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही वर्गों से सम्बन्धित थीं। जैसे जहाँआरा, नूरजहाँ, गुलबदन बेगम, चाँदबीबी, दुर्गावती और ताराबाई परन्तु सामान्यतः महिलाओं को अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था, जैसे पर्दा प्रथा, बहु–विवाह, बाल–विवाह, सती प्रथा, बाल–हत्या आदि। अकबर द्वारा सामाजिक सुधारों के प्रयास किये गए। उसने स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन

[1] चोपड़ा, पी0एन. आपसिट, पेज–6

दिया। बहुविवाह एवं सती का प्रचलन रोका और विवाह के लिए निम्नतम आयु निर्धारित करने के आदेश दिये। परन्तु ये प्रयास बहुत सफल सिद्ध नहीं हुए।[2]

दूसरी ओर दासों की स्थिति में सल्तनकाल की तुलना में गिरावट आयी। दासों को अब मात्र सेवक के रूप में अथवा घरेलू काम–काज के सहायक के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। उन्हें प्रशासनिक अथवा सैनिक पदों पर नियुक्ति वस्तुतः बन्द हो गयी। स्वाभाविक रूप से समाज में उनकी स्थिति में गिरावट आयी।

मुगलकाल में शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि मदरसों के पाठ्यक्रम में धर्मातिरिक्त विषयों, जैसे गणित, दर्शन, साहित्य आदि का महत्व बढ़ा। इसी के साथ गैर मुस्लिमों द्वारा फारसी शिक्षा के प्रति अधिक अभिरूचि दिखायी गयी। इसके दो कारण थे। एक तो हिन्दुओं को प्रशासनिक पदों पर काफी संख्या में नियुक्तियाँ मिलने लगी थीं और इनके लिए फारसी शिक्षा इन नौकरियों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य थी क्योंकि फारसी ही प्रशासनिक कार्यों की भाषा थी। दूसरे पाठ्यक्रम में धर्मातिरिक्त विषयों का महत्व बढ़ने के कारण गैर–मुस्लिमों के लिए भी अब यह शिक्षा पद्धति अधिक उपयोगी बन गयी थी। यह परिवर्तन लोदी काल से ही आरम्भ हो गये थे, मगर इनका परिपक्व रूप मुगलकाल में ही प्रस्तुत हुआ। इसी के साथ–साथ हिन्दू और मुस्लिम समाज में शिक्षा का परम्परागत रूप भी पूर्ववत बना रहा।[3]

हिन्दू और मुस्लिम समाज के बीच सम्पर्क से एक मिली–जुली परम्परा का आरम्भ हुआ। रहन–सहन के ढंग, खान–पान, वेश–वूषा, त्यौहार एवं उत्सव आदि में एक मिली–जुली परम्परा विकसित हुई। मुगलकाल में इस समन्वयवादी का दरबारी जीवन से भी घनिष्ठ सम्पर्क रहा। अकबर द्वारा राजपूत शासकों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति अपनाने और वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना से शासक वर्ग के जीवन में भी समन्वय आया और मुगल दरबार के रीति–रिवाज पर राजपूत परम्परा का प्रभाव पड़ा। बाद में मुगल परम्पराओं ने राजपूतों के दरबारी जीवन को भी प्रभावित किया।

1.3 ग्रामीण आर्थिक जीवन

मुगल साम्राज्य में आर्थिक जीवन का अध्ययन मुख्यतः दो स्तरों पर किया जा सकता है, ग्रामीण और नगरीय। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में कृषि की प्रधानता पूर्ववत बनी रही, जबकि नगरीय जीवन में व्यापार और शिल्प–उत्पादन की स्थिति पहले की तुलना में अधिक समुन्नत रही। सबसे बढ़कर यूरोपीय व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ और विभिन्न यूरोपीय व्यापारी कम्पनियों ने भारत में अपने क्रिया–कलाप आरम्भ किए। मुद्रा प्रणाली भी अधिक सुसंगठित बनी और बैकिंग एवं बीमाकरण आदि की दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। इन परिवर्तनों के बावजूद मुगलकालीन अर्थ–व्यवस्था का स्वरूप कृषि–प्रधान

[2] अशरफ, आपसिट, पेज–205

[3] बनारसी प्रसाद सक्सेना, शाहजहां ऑफ देहलीख पृ0 27

ही रहा और राज्य की आमदनी का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत लगान या भू–राजस्व ही रहा। मुगल साम्राज्य की पुनर्स्थापना के बाद ही अकबर ने राजस्व प्रणाली को सुव्यवस्थित रूप देने के उपाय किय। इस क्रम में उसने विभिन्न प्रयोग किये और अन्ततः शेरशाह द्वारा विकसित लगान–व्यवस्था को कुछ सुधारों के साथ ग्रहण किया। अकबर की इसी व्यवस्था का प्रचलन उसके उत्तराधिकारियों ने भी जारी रखा।[4]

1.4 राजस्व व्यवस्था

मुगलकाल में भू–राजस्व को माल अथवा खराज कहते थे। इसका स्वरूप कृषि–सम्बन्धी कर का था जो विभिन्न फसलों के आधार पर वसूल किया जाता था। राज्य की आमदनी का यही मुख्य स्रोत था। इसका निर्धारण और वसूली रबी और खरीफ की फसलों पर अलग–अलग किया जाता था। इस व्यवस्था का मूल आधार शेरशाह द्वारा विकसित प्रणाली पर आधारित था। शेरशाह ने अपने शासनकाल में एक योग्य एवं कार्यकुशल राजस्व प्रणाली का विकास किया था जो मापन पर आधरित थी। इसके अन्तर्गत कृषि योग्य भूमि की माप के आधार पर लगान का निर्धारण किया जाता था। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने किसान को पट्टा देने और उससे कबूलियत लेने के उपाय किए जिससे राज्य और किसान के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हुए और जागीरदारों एवं जमीन्दारों की स्थिति कमजोर पड़ी। शेरशाह ने लगान के निर्धारण के लिए भूमि के वर्गीकरण के आदेश दिए थे। भूमि को उपज के आधार पर तीन श्रेणियों, उत्तम, मध्यम, निम्न में विभाजित कर तीनों की औसत उपज का आंकलन करके इसका 1/3 अंश लगान के रूप में निर्धारित किया जाता था। लगान की यही दर 'रै' कहलाती थी। नगद वसूली की स्थिति में इसी 'रै' का अनाज के प्रचहलित मूल्यों के आधार पर नगद–दरों में परिवर्तन कर लिया जाता था। यह नगद दरें 'दस्तूर' कहलाती थीं। उसने लगान की नगद अदायगी को लोकप्रिय बनाया और किसान की सुविधा के लिए 'तकावी' ऋण का प्रचलन भी किया।[5]

1.5 अकबर के आरम्भिक प्रयोग

शेरशाह की मृत्योपरांत इस व्यवस्था की कार्यकुशलता प्रभावित हुई थी। अतः अकबर को अपने आरम्भिक शासनकाल में वार्षिक निर्धारण की व्यवस्था अपनानी पड़ी। इसके अन्तर्गत स्थानीय कानूनगो द्वारा प्रस्तुत जानकारी के आधार पर लगान की वसूली की जाने लगी। लेकिन इसमें कुछ कठिनाइयों का अनुभव किया गया क्योंकि अधिकतर कानूनगो सही स्थिति की सूचना नहीं देते थे। 1573 के लगभग अकबर ने लगान वसूली के लिए करोड़ी नामक अधिकारी नियुक्त किए। इनके क्षेत्रों से एक करोड़ दाम (ढाई लाख रूपये) प्रतिवर्ष की राशि लगान में प्राप्त होती थी। इन्हें कानूनगो द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के सम्बन्ध में छानबीन करने की भी जिम्मेदारी दी गयी। भूमि की उत्पादकता, वास्तविक उपज की मात्रा और स्थानीय बाजार में प्रचलित मूल्यों आदि के बारे में इस प्रकार विस्तृत और विश्वसनीय आंकड़ें संकलित किये गये। इस प्रकार जो जानकारी प्राप्त हुई उसकी सहायता से 1580–81 में अकबर ने आइने दहसाला की व्यवस्था लागू की।[6]

---

[4] श्रीवास्तव, एल0एल0, आपसिट, पृ0 27

1. [5] अशरफ, आपसिट, पेज–82

[6] यदुनाथ सरकार, आपसिट, पेज–135

1.6 ज़ब्त व्यवस्था

अकबर ने शेरशाह की व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण संशोधन भूमि के वर्गीकरण के क्षेत्र में किया। उसने भूमि को खेती की बारम्बारता के आधार पर चार श्रेणियों में विभक्त कर दिया जो निम्नलिखित थीं–

1. पोलज–जिसमें प्रति वर्ष खेती का काम होता था।
2. पड़ती (पड़ौती)–जिसमें एक वर्ष के अन्तर पर खेती की जाती थी।
3. चाचर–जो दो से चार साल तक खेती के काम में नहीं लाई जाती थी।
4. बंजर–जो पाँच साल या उससे अधिक समय तक खेती के काम में नहीं लाई जाये।

प्रत्येक श्रेणी की भूमि का उपज के आधार पर उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणियों में विभाजन कर उनकी औसत दर के आधार पर लगान की राशि तय की गयी। पोलज और पड़ती उत्तम श्रेणी की भूमि थी जिस पर सामान्य दर से लगान लिया जाता था (1/3), जबकि चाचर और बंजर निम्न श्रेणी की भूमि थी जिस पर रियायती दर से लगान लगता था (1/4)। अकबर ने भूमि की माप के लिए भी नया गज प्रयोग किया जो इलाही गज कहलाता था (1556)। लगान वसूली के लिए उसने नया संवत आरम्भ किया जो इलाही संवत कहलाता था और जो सौर्य पंचांग पर आधारित होने के कारण मौसम के अनुरूप था। इसमें लगान की वसूली नियमित रूप से करना आसान हो गया। शेरशाह की व्यवस्था का यही संशोधित रूप 'जब्त' कहलाया।[7]

1.7 आईने दहसाला

अकबर द्वारा सबसे महत्वपूर्ण संशोधन 'आइने दहसाला' (दस वर्षीय नियम) के रूप में किया गया। इसे 1580–81 ई॰ में लागू किया गया जो अकबर का चौबीसवाँ शासकीय वर्ष था। इसके विकास में उन सभी आंकड़ों का उपयोग हुआ जो विगत वर्षों में संकलित किये गये थे। पिछले दस वर्षों में, अर्थात् 1571 से 1580 ई॰ के बीच, विभिन्न क्षेत्रों से प्रति वर्ष अनाज के उत्पादन की दरें निर्धारित की गईं। और इसका दस–वर्षीय औसत निकाल लिया गया। इसे 'रै' कहते थे। प्रति वर्ष उपज में कमी–वेशी से पृथक इसी 'रै' को उस क्षेत्र की सामान्य उपज माना गया जो लगान निर्धारण का आधार बनी। फिर प्रति वर्ष के मूल्यों का औसत दस वर्ष के अनुसार निर्धारित किया गया जिसके आधार पर लगान की औसत नगद–दर निर्धारित की गई जिसे 'दस्तूर' कहते थे। प्रत्येक प्रकार की भूमि से अलग–अलग 'दस्तूर' निर्धारित कर लिए गये जिसके अनुसार किसान से लगान वसूली नियमित रूप से होने लगी। इसका लाभ यह हुआ कि प्रति वर्ष लगान–निर्धारण की समस्या का संतोषजनक समाधान प्रस्तुत हुआ।

आईने दहसाला की व्याख्या के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। मोरलैन्ड ने इसे दस वर्षीय प्रबन्ध का नाम दिया है, जो गलत है। इश्तयाक हुसैन कुरैशी के अनुसार इसके अन्तर्गत लगान का निर्धारण प्रत्येक वर्ष किया जाता था और इसमें दस वर्षीय औसत को बनाए रखने के लिए प्रति वर्ष की

[7] आइने अकबरी, भाग–3, कलकत्ता, 1872–73, पृ0 312

दरों को जोड़कर और पिछले दस वर्षों की अवधि के अंतिम वर्ष की दरों को हटाकर, औसत का पुनः निर्धारण होता था। इरफान हबीब ने पुनरीक्षण की इस व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं करते हुए स्पष्ट किया है कि आइने दहसाला के अन्तर्गत निर्धारित नगद दरें या दस्तूर स्थायी रूप रखते थे।[8]

अबुल फजल के वर्णन से भी यही प्रतीत होता है कि आईने दहसाला की निर्धारित दर स्थाई थी जिसमें प्रति वर्ष संशोधन की आवश्यकता नहीं थी। राज्य को इन दरों में संशोधन करने का अधिकार था और सम्भवतः ऐसा हुआ भी परन्तु इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इरफान हबीब का विचार अधिक तर्कसंगत है क्योंकि यदि प्रति वर्ष लगान–दर में परिवर्तन और इसका पुनःनिर्धारण अनिवार्य होता तो फिर दस वर्षीय नियम की आवश्यकता ही नहीं होती। यह भी स्मरणीय है कि जब्त प्रणाली के साथ आईने दहसाला भी एक अभिन्न अंग के रूप में लागू हुआ। दोनों का उद्देश्य राज्य की लगान से प्राप्त होने वाली आमदनी को स्थायी रूप से निर्धारित करना था, ताकि राजस्व प्रणाली में अस्थिरता समाप्त हो। इस परिस्थिति में भी प्रति वर्ष लगान की नकद राशि का नये सिरे से निर्धारण तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।[9]

शीरीन मसूवी ने स्पष्ट किया है कि अकबर के आरम्भिक शासनकाल के विभिन्न प्रान्तों में नगद दरों में एकरूपता बनी रही, परन्तु बाद के वर्षों के विभिन्न प्रान्तों के लिए वर्णित दरों में अंतर देखा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि धीरे–धीरे उत्पादकता और मूल्यों में स्थानीय अंतरों को ध्यान में रखते हुए नगद दरों को अधिक यथार्थवादी ढंग से निर्धारित किया जाने लगा। आईने दहसाला के प्रचलन तक इन विविधताओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक परगना में अलग–अलग लगान सम्बन्धी इकाईयों का गठन किया गया। यह इकाईयाँ एक ही जैसी उत्पादकता और मूल्यों वाले क्षेत्र पर आधारित थीं। अतः अब किसान को स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ही लगान देना पड़ता था।

1.8 लगान का कृषकों पर बोझ

लगान की दर सामान्यतः उपज का 1/3 भाग निर्धारित की जाती थी मगर मोरलैंड और इरफान हबीब के अनुसार लगान का वास्तविक बोझ किसान पर कहीं अधिक था। उसे कम से कम उपज का 1/2 भाग और सम्भवतः कहीं–कहीं 3/4 भाग लगान के रूप में देना पड़ता था क्योंकि राज्य को निर्धारित लगान देने के अतिरिक्त जमींदारों को भी 'दस्तूरी' अथवा 'मालिकाना' या 'हुकूके जमींदारी' के रूप में उपज का लगभग 1/10 भाग अतिरिक्त कर देना पड़ता था। इनके अनुसार मुगलकालीन राजस्व प्रणाली इस प्रकार अत्यधिक शोषणपूर्ण थी। कुरैशी एवं नोमान अहमद सिद्दीकी ने इस विचार का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यदि यह व्यवस्था इतनी शोषणपूर्ण होती तो एक शताब्दी से भी अधिक समय तक यह इतनी शान्ति और सुव्यवस्था के साथ कार्य करते रहने में समर्थ नहीं होती। यह विचार सही प्रतीत होता है कि औरंगजेब के काल में और उसके बाद जब किसानों पर कर का बोझ बढ़ा तो विद्रोह एवं विप्लव की स्थिति साम्राज्य में उत्पन्न हुई। अतः यह धारणा निर्मूल है कि मुगलकालीन कृषक वर्ग कठोर शोषण और अत्याचारपूर्ण कर प्रणाली का सदा शिकार रहा। स्वयं इरफान हबीब का भी यह

[8] इरफान हबीब, दी एग्रेरियन सिस्टम ऑफ दी मुगल्स, बम्बई, 1963, पेज–94

[9] उद्वत हरिशचन्द्र वर्मा, संपादक, मध्य कालीन खण्ड–2 (1540–1761), प्रथम संस्करण, 1963 हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विष्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पेज–443

विचार है कि ब्रिटिशकाल की तुलना में मुगलकालीन कृषक अधिक संतोषजनक ढंग से जीवन–यापन करता था।[10]

1.9 लगान वसूली की अन्य व्यवस्थाएँ

अकबर के साम्राज्य के अधिकांश भाग, 'ज़ब्त' व्यवस्था के अधीन थे। इसके अन्तर्गत भूमि की माप और वर्गीकरण के पश्चात्, औसत उपज निर्धारित करके उसके समानुपात नगद दरों का निर्धारण कर लिया जाता था और इन्हीं दरों को मानक मानते हुए लगान की वसूली की जाती थी। अकबर के समय में यह प्रथा उसके आठ प्रान्तों में लागू थी जो नमक क्षेत्रों से लेकर सोन नदी तक विस्तृत थे और जिनमें उत्तरी भारत का समस्त मध्यवर्ती भाग शामिल था। इसके उत्तराधिकारियों के समय में इसका विस्तार अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। दकन में यह प्रथा शाहजहाँ के समय में लागू हुई जब औरंगजेब वहाँ का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसके दीवान, मुर्शिद कुली खाँ ने इस व्यवस्था को लागू किया। जब्त प्रथा को टोडरमल का बन्दोबस्त भी कहते हैं। एक दूसरी प्रथा 'नसक' कहलाती थी। मोरलैंड के अनुसार, इस प्रथा में भूमि की माप के बिना सामान्य रूप से लगान निर्धारित किया जाता था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह प्रत्येक किसान पर अलग–अलग लगान निर्धारित करने के बजाय एक क्षेत्र पर सामूहिक रूप से लगान निर्धारित करने की प्रथा थी, कुछ अन्य इसे निश्चित समय के लिए लगान निर्धारण के रूप में देखते हैं। इरफान हबीब के अनुसार यह कोई विशिष्ट प्रणाली नहीं थी बल्कि विभिन्न प्रणालियों का मिला–जुला रूप थी। इसमें भूमि की नियमित माप अनिवार्य नहीं थी, बल्कि विगत वर्षों की माप के आंकड़ों को मानक मानते हुए वर्तमान वर्ष की लगान की राशि का भी अनुमान कर लिया जाता था। एक अन्य प्रथा कनकूत थी जिसमें भूमि की माप पर ध्यान बिना ही विगत वर्षों की लगानवसूली के आंकड़ों के आधार पर वर्तमान वर्ष के लिए भी वसूली कर ली जाती थी। इनके अतिरिक्त पूर्वकाल से चली आ रही बटाई और भाउली या गल्ला बख्शी की विधियाँ भी प्रचलित रहीं, जिसमें हर साल वास्तविक उपज के आधार पर राज्य और किसान के बीच फसल का बँटवारा हो जाता था। लगान की वसूली को ठेका या इजारा पर देने की प्रथा भी प्रचलित थी। अकबर ने इसे हतोत्साहित किया था और कम से कम खालिसा क्षेत्रों में इसकी अनुमति प्रदान नहीं की थी, मगर उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह प्रथा अधिक लोकप्रिय होने लगी थी। औरंगजेब के समय तक खालिसा क्षेत्रों में भी हजारे की प्रथा का प्रचलन हो गया था।[11]

1.10 कर मुक्त अनुदान

प्रशासनिक उद्देश्यों से कृषि योग्य भूमि की कई श्रेणियाँ स्वीकृत थीं। कुछ भूमि खांलिसा के अधीन थी। यह भूमि सम्राट के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थी और इससे प्राप्त लगान केन्द्रीय कोष में जमा होता था। जागीर भूमि प्रशासनिक अनुदान के रूप में थी जिससे प्राप्त लगान पर जागीरदारों का नियंत्रण रहता था। पैबाकी भूमि में वह जागीरें शामिल थीं जो अस्थाई रूप से केन्द्रीय नियंत्रण के अधीन रखी जाती

[10] कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड–1, पृ0461

[11] इरफान हबीब, दी एग्रेरियन, आपसिट, पेज–343

थी। इन सबके अलावा कुछ भूमि कर–मुक्त अनुदानों के रूप में होती थी। ऐसे कर मुक्त अनुदान सोयुरगाल कहलाते थे। इनमें मदद–माश भूमि सम्मिलित थी जो अनुग्रह राशि के रूप में जरूरतमंद लोगों को प्रदान की जाती थी तथा अइम्मा अनुदान भी जो विद्वानों, बुद्धिजीवियों आदि को सहायतार्थ भेंट की जाती थी। संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करने हेतु वक्फ भूमि का भी अनुदान होता था।

मुगलकाल में भू–स्वामित्व की स्थिति सुस्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही भूखण्ड पर राज्य को और विभिन्न वर्गों को साथ–साथ अधिकार प्राप्त रहते थे मगर पूर्ण स्वामित्व की कोई कल्पना नहीं थी। जमींदारी का भी वास्तविक सम्बन्ध भू–स्वामित्व से नहीं बल्कि भूमि के उपयोग से सम्बन्धित अधिकारों और सुविधाओं से था। इन पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों के बीच संतुलन बनाए रखने में कुछ तो राजकीय नियंत्रण का योगदान था और कुछ उन परम्परागत सम्बन्धों का जो ग्रामीण समुदाय को सदा से प्रभावित और नियंत्रित करते आये थे।[12]

1.11 ज़मींदार वर्ग और उसकी भूमिका

"जमींदार" फारसी भाषा क शब्द है जिसका अर्थ होता है भूमिपति। इस शब्द का प्रयोग मुगल काल में सामान्यतः ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता था जिसे किसान की उपज में एक निर्धारित अंश वंशानुगत रूप से प्राप्त होता था। इन जमींदारों की अलग–अलग श्रेणियाँ थीं। प्राथमिक जमींदार वह थे जो किसी भूखण्ड के स्वामी या मालिक होते थे और उस पर मजदूरों से खेती कराते थे। माध्यमिक जमींदार वह थे जो किसी भूखण्ड के मालिक थे और इस पर मजदूरों से खेती कराते थे। इसके साथ ही साथ वे अन्य किसानों से लगान को वसूली करते थे। उन्हें किसान से उपज का निर्धारित अंश प्राप्त करने का भी अधिकार था। उच्च स्तर पर जमींदार राजा थे जो उपरोक्त अधिकारों के साथ अपने क्षेत्र का प्रशासन भी स्वयं चलाते थे। सभी श्रेणियों के जमींदारों को राज्य को लगान अदा करने का दायित्व स्वीकार करना पड़ता था और उन्हें अपनी भूमि को बेचने का अधिकार प्राप्त रहता था। माध्यमिक जमींदार किसानों से उपज का 10 प्रतिशत अतिरिक्त कर रूप में भी वसूल कर सकते थे जिसे दस्तूरी या हुकूके जमींदारी कहते थे। जमींदारों के ये अधिकार एवं उनके द्वारा लगाए जाने वाले कर भू–राजस्व से पृथक थे परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन के दिनों में यह अन्तर वस्तुतः अस्पष्ट हो गया।[13]

ऐसा प्रतीत होता है कि जमींदारों के अधिकारों का आधार उन वित्तीय अधिकारों पर था जो विगत काल में किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे थे। तुर्क एवं अफगान शासकों की भाँति मुगल शासकों ने भी जमींदारों के परम्परागत अधिकारों का सम्मान किया। साथ ही उन्होंने इस सन्दर्भ में अधिक एकरूपता लाने के प्रयास भी किए। इसके फलस्वरूप जमींदारों को लगान देने का दायित्व और जमींदारी सम्बन्धी अधिकारों के विक्रय की सुविधा को सामान्य रूप में मुगल साम्राज्य में मान्यता प्राप्त रही। इन दो मौलिक विशेषताओं के अतिरिक्त जमींदारों के कुछ अन्य विशिष्ट अधिकार भी थे जो इस प्रकार हैं–

1. राज्य द्वारा जमींदारों की भूमि में वंशानुगत अधिकार को मान्यता प्राप्त रही।

[12] मोरलैण्ड, दि एग्ररियन, आपसिकट, पेज–96

[13] चोपड़ा, पी0एन., आपसिट, पेज–18

2. लगान की वसूली और प्रशासन के मामलों में जमींदारों द्वारा राज्य और कृषक के बीच मध्यस्थ की भूमिका बनी रही।

3. बड़े जमींदारों और राजाओं को अपने क्षेत्र में कुछ प्रशासनिक अधिकार प्राप्त रहे।

4. जमींदारों द्वारा भूमि को जोतने के लिए मजदूरों का प्रयोग करने की व्यवस्था बनी रही।

जमींदारों के परम्परागत अधिकारों को सामान्यतः किसी भूखण्ड को कृषि कार्य के लिए अधिकृत करने और उस पर कृषकों को बसाने के सम्बन्ध में माना जाता था। उन्हें इसी प्रकार स्वेच्छा से किसानों को भूमि से बेदखल करने का भी अधिकार था, फिर भी भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण कृषकों को बेदखल करना जमींदार के लिए बहुत लाभदायक नहीं था। जमींदारों को कृषकों के प्रवास पर रोक लगाने का कोई अधिकार नहीं था।[14]

जमींदारों के अधिकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध जाति एवं उप–जाति पर आधारित सम्बन्धों से था। सामान्यतः एक क्षेत्र के जमींदार एक ही जाति के होते थे। जमींदारों के अधीनस्थ सैनिक भी सामान्यतः जमींदार ही की जाति के होते थे। इसके अतिरिक्त जमींदारों का निवास गढ़ों अथवा छोटे दुर्ग में था और उनकी निजी सेना भी होती थी। जमींदारों का वर्ग इस प्रकार एक महत्वपूर्ण ग्रामीण कुलीनतंत्र था जिसे विशेष राजनैतिक महत्व प्राप्त था और जिसकी अनदेखी राज्य नहीं कर सकता था। यही कारण है कि मुगल सम्राटों द्वारा जमींदारों को विशेषाधिकार और सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं और प्रशासन में उनका सहयोग भी प्राप्त किया जाता था।

राज्य और जमींदार वर्ग के बीच सम्बन्धों का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता था। महान मुगल सम्राटों के अधीन जब केन्द्रीय प्रशासन सशक्त और सुदृढ़ हो गया तो जमींदारों पर मुगलों का नियंत्रण भी पूर्णतः बना रहा क्योंकि जमींदार यह जानते थे कि केन्द्रीय प्रशासन से असहयोग अथवा उसकी सत्ता को चुनौती देना उनके लिए हानिकारक होगा। उन्होंने प्रशासनिक कार्यों में केन्द्रीय सत्ता के साथ सहयोग भी किया, परन्तु उत्तरकालीन मुगलों के अधीन जब केन्द्रीय सत्ता पतनशील हो गई जमींदारों का वर्ग भी अनुशासनहीन हो गया। अठारहवीं शताब्दी में जब एक ओर जागीरदारी प्रथा के संकट ने केन्द्रीय प्रशसन को पंगु बना दिया था और दूसरी ओर कृषकों के विद्रोहों ने राज्य में अराजकता का वातावरण बना रखा था तो जमींदारों ने इस अराजकतापूर्ण परिस्थिति का लाभ उठाया और केन्द्रीय सत्ता का विरोध करके अपने लिए स्वतंत्र राज्यों के निर्माण में लग गये। इससे भी मुगल साम्राज्य के पतन का क्रम तीव्र हो गया।[15]

1.12 नगरीय जीवन

मुगलकालीन भरत में नगरीय जीवन की समृद्धि बढ़ी और नगरों की संख्या में भी वृद्धि हुई। यद्यपि अर्थ–व्यवस्था का आधार अभी भी कृषि ही था मगर सल्तनतकाल की तुलना में नगरीय जीवन अधिक समुन्नत रहा। इसके कई कारण थे। मुगल सत्ता के अधीन शांति और सुव्यवस्था, मुगल शासक

[14] फ्रेंकोस, पेल्सर्ट, जहांगीर्स इण्डिया, अनुवाद डब्लू0एच0 मोरलैण्ड तथा पी0गल0, दिल्ली, 1925

[15] कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑ इण्डिया, पु0 462

वर्ग का नगरीय जीवन के प्रति अनुराग, जिस कारण शिल्पकारों और दस्तकारों का वर्ग नगरों में निवास करने के लिए आकर्षित हुआ, शेरशाह के आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप उत्तर भारत में आर्थिक एकीकरण की प्रवृत्ति, सड़कों और यातायात व्यवस्था की प्रगति और इसके फलस्वरूप व्यापार की उन्नति तथा यूरोपीय व्यापारी कम्पनियों का आगमन और तटवर्ती नगरों में बढ़ती हुई व्यापारिक गतिविधियों ने मुगल साम्राज्य में नगरों की प्रगति में विशेष योगदान दिया।

अकबर के समय में मुगल साम्राज्य में 120 नगरों और 3200 कस्बों का उल्लेख मिलता है। इनमें आबादी के दृष्टिकोण से आगरा और दिल्ली सबसे विशाल थे। फिंच नामक यूरोपीय यात्री के अनुसार आगरा और लाहौर तत्कालीन लंदन और पेरिस से बड़े शहर थे। मैनरीक ने तत्कालीन पटना की आबादी 2 लाख के लगभग बतायी है। यह संख्या यूरोपीय नगरों की आबादी की तुलना में कई गुणा अधिक थी। मुगलकालीन नगरों में प्रशासनिक केन्द्र (शाही व प्रान्तीय राजधानियाँ), व्यापारिक केन्द्र (पत्तन एवं अन्तर्देशीय नगर) धार्मिक तथा शैक्षिक केन्द्र सभी शामिल थे। इनकी आबादी में विभिन्न सम्प्रदाय थे जिनमें भारतीय और विदेशी, हिन्दू और मुसलमान आदि शामिल थे।[16]

नगरीय आबादी के बीच स्पष्ट वर्गीकरण था। सर्वोपरि स्थिति शासक वर्ग की थी जिसमें सम्राट और उसका परिवार, सामंत और बड़े अधिकारी शामिल थे। मध्यम वर्ग में निम्न स्तर के कर्मचारी, व्यापारी और कुछ अन्य व्यवसायी वर्ग थे जबकि साधारण स्तर पर शिल्पकार, कारीगर और सेवक वर्ग के लोग थे। विभिन्न वर्गों की स्थिति में परिवर्तन की सम्भवना सदैव बनी रहती थी और ग्रामीण समुदाय की तुलना में नगरीय समाज में अधिक गतिशीलता थी।

1.13 नगर–प्रशासन

नगरों के प्रशासन की देख–रेख कोतवाल नामक अधिकारी के हाथ में थी। उसके द्वारा कानून और व्यवस्था की देख–रेख, अपराधियों की गिरफ्तारी और दंड की व्यवस्था, व्यापार–वाणिज्य की देख–रेख, चुंगी की वसूली, रात की पहरेदारी, विदेशियों और अजनबियों की निगरानी, अनैतिक आचरण पर प्रतिबन्ध, आदि कार्य किये जाते थे। वर्तमान में नगरपालिका और आरक्षी व्यवस्था की नगर–प्रशासन में जो भूमिका है, वस्तुतः वही कोतवाल की मुगलकाल में थी।

पत्तनों की देख–रेख के लिए एक अलग अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जो मुतसद्दी कहलाता था। उसे मुख्यतः आर्थिक गतिविधियों की देख–रेख करनी थी जैसे व्यापारियों से चुंगी की वसूली, मुद्रालय की देख–रेख आदि।

1.14 नगरीय शिल्प–उद्योग

अधिकतर मुगलकालीन नगर उत्पादन और व्यापार के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। नगरों में केन्द्रित उद्योग हस्तशिल्प–उत्पादन पर आधारित थे और इनमें सबसे अधिक महत्व वस्त्र उद्योग का था। सूती वस्त्र अनेक नगरों में निर्मित होते थे जिनमें बंगाल, गुजरात और सिन्ध अग्रगन्य हैं। रेशमी वस्त्रों का उत्पादन बंगाल, कश्मीर, लाहौर, कैम्बे आदि नगरों में होता था, परन्तु भारतीय रेशम की तुलना

[16] रिजवी, मुगलकालीन भारत, भाग–1, पृ0 191–94

में ईरान और चीन में बने रेशम के उत्कृष्ट होने के कारण रेशमी वस्त्रों का आयात भी बड़े पैमाने पर होता था। आयातित रेशम का मूल्य भी अधिक होता था और इसकी खपत केवल शासक वर्ग और धनी वर्ग के बीच होती थी। ऊनी वस्त्र और पटसन से बनी वस्तुओं के उत्पादन की विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं। ऊनी शालें और कालीन कश्मीर में बड़े पैमाने पर बनाई जाती थीं और अकबर ने इन उद्योगों का विस्तार लाहौर और आगरा तक किया लेकिन कालीनों का आयात ईरान से बड़े पैमाने पर होता रहा।[17]

1.15 कारखाने

नगरों में केन्द्रित उद्योग दो रूप में संगठित थे। एक स्तर पर शाही कारखाने थे जो राजपरिवार की आवश्यकतानुसार विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करते थे। प्रत्येक कारखाने के दारोगा अथवा निरीक्षक होते थे जो उत्पादन प्रक्रिया पर पूर्ण नियंत्रण रखते थे। सामूहिक रूप से सभी कारखाने 'मीर–सामान' के नियंत्रण में थे जो प्रमुख मंत्रियों में एक था। इन कारखानों में निर्धारित वेतन पर काम करने वाले मजदूर उत्पादन का काम करते थे। उन्हें कच्चा माल उपलब्ध कराने, उत्पादन सम्बन्धी निर्देश देने और उत्पादित वस्तुएँ की वसूली के काम दारोगा द्वारा किए जाते थे। दूसरे स्तर पर स्वतंत्र कारीगरों द्वारा सामूहिक रूप से उत्पादन का काम होता था। ये कारीगर व्यवसायिक समूहों के रूप में संगठित भी होते थे। इनके द्वारा कच्चे माल की प्राप्ति, उत्पादन और उत्पादित वस्तु की बिक्री तक सारे काम संगठित किए जाते थे।

मुगलकालीन भारत में ग्रामीण उद्योगों का वर्णन भी मिलता है। सामान्यतः इनका सम्बन्ध कृषि–क्षेत्र से था। चीनी बनाने, तेल पेरने और अनाज की सफाई का काम इस क्षेत्र की प्रमुख गतिविधियाँ थीं। तेल पेरने का काम मुख्य रूप से सिन्ध, बंगाल और गुजरात में होता था। लाहौर चीनी और मिस्री उत्पादन का मुख्य केन्द्र था। पंजाब, गुजरात और बंगाल नमक उत्पादन के मुख्य केन्द्र थे, जबकि अफीम का उत्पादन बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में होता था। ये सभी उद्योग कुटीर उद्योगों के रूप में संगठित थे और इनमें मजदूरों का काम स्थानीय कृषकों द्वारा किया जाता था जो फसल काटने के बाद अतिरिक्त समय में इन कामों में भाग लेते थे। यह स्मरणीय है कि इन कार्यों में लगे किसानों को मजदूरी के रूप में कुछ अतिरिक्त आमदनी भी प्राप्त हो जाती थी जो कृषि से प्राप्त आय के पूरक के रूप में होती थी।[18]

1.16 अंतर्देशीय व्यापार

मुगलकालीन नगर व्यापार के भी महत्वपूर्ण केन्द्र थे। व्यापार के तीनों ही रूप विकसित अवस्था में थे। अन्तर्देशीय व्यापार, तटवर्ती व्यापार और विदेश व्यापार। अन्तर्देशीय व्यापार के दो मुख्य मार्ग थे, स्थल मार्ग और जलमार्ग। लगभग सभी महत्वपूर्ण नगर सड़कों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। सड़क–यातायात का विकास शेरशाह के समय से ही आरम्भ हो चुका था और मुगलों ने इस क्रम को बनाए रखा। सड़कों के माध्यम से माल ढोने वाले जानवरों और गाड़ियों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक सामान लाये और ले जाये जाते थे। इसमें खाद्यान्न, कपड़े, मसाले आदि सामान शामिल थे। चूँकि

[17] सतीशचन्द्र, मेडिवल इण्डिया, पृ 29–46

[18] इरफान हबीब, द एग्रेरियन, आपसिट, पृ0 101

प्रमुख नगर नदियों के किनारे स्थित थे इसलिए जलमार्ग द्वारा भी व्यापार–सम्बन्धी सामग्री लाने ले जाने का काम होता था। सिन्धु, गंगा और जमुना प्रमुख जलमार्ग के रूप में थी। स्थल मार्ग की तुलना में नदियों से सामान लाना–ले जाना आसान, सस्ता और सुरक्षित भी था। कठिनाई केवल यह थी कि नदियों में बाढ़ के समय नौकारोहन कठिन हो जाता था।[19]

1.17 तटवर्ती व्यापार

तटवर्ती व्यापार भी इस काल में समुन्नत अवस्था में रहा। पश्चिमी और पूर्वी सागरतट दोनों ही पर अनेक बन्दरगाहें स्थित थीं जहाँ से जहाजों द्वारा सामान लाने–ले जाने का काम नियमित रूप से होता था। ऐसी बन्दरगाहों में लहारी बन्दर, खंबायत, दियु, सूरत, कालीकट, क्वीलोन आदि पश्चिमी तट पर और सत्गाँव, हुगली, मसूलीपटम आदि पूर्वी तट पर स्थित थे। ये विदेश व्यापार के भी मुख्य केन्द्र थे। तटवर्ती व्यापार में मुख्य रूप से खाद्यानों, मसालों, सूती वस्त्रों और कुछ अन्य वस्तुओं का व्यापार होता था। आरम्भ में इस पर भारतीय व्यापारियों का एकाधिकार था मगर सोलहवीं शताब्दी में धीरे–धीरे इस पर पुर्तगालियों ने अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ कर दिया था।[20]

1.18 विदेश व्यापार

मुगलकाल में विदेश व्यापार की स्थिति सल्तनत काल की तुलना में अधिक समुन्नत रही और अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्रों से भी प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्पर्क बना। दूसरी ओर यूरोपीय देशों के साथ प्रत्यक्ष व्यापार भी आरमभ हुआ। विदेश व्यापार क चार सुनिश्चित मार्ग थे, सुदूर पूर्व क सथ व्यपार मुख्य रूप से पूर्वी तट के बन्दरगाहों से होता था जैसे सत्गाँव, हुगली अर मसूलीपटम्। इस व्यापार का अन्तिम बिन्दु मलक्का द्वीप था जो सिंगापुर और मलेशिया के मध्य में स्थित है। सूत्री वस्त्र, अफीम और कृषि उत्पदन के बदले में सोने, चाँदी, मसाले और रेशमी वस्त्रों का व्यापार होता था।

पश्चिमी सागर तट की मुख्य बन्दरगाहों, जैसे लहारी बन्दर, सूरत, भड़ोच, भटकल और कालिकट, से व्यापारिक सामान अरब देश ईरान, अफ्रीका और यूरोप की ओर जाते थे। अरब देश से घोड़ों, दवाओं, सुगन्धित वस्तुओं आदि का आयात होता था जबकि ईरान से रेशमी वस्त्र, कालीन और सूखे फलों का आयात होता था। दोनों ही क्षेत्रों को सूती कपड़े, मसाले और नील का निर्यात होता था। अफ्रीका से दास, हाथी दाँत, लकड़ी, सोने आदि का आयात होता था और इसके बदले में खाद्यान्नों और कपड़ों का निर्यात होता था। यूरोप के देशों के साथ व्यापार अप्रत्यक्ष रूप से था। यूरोप में मुख्य माँग मसालों की थी। इसका कुछ ही अंश भारत से प्राप्त होता था। शेष अंश मसालों के द्वीप (आधुनिक मलेशिया और इन्डोनशिया) से प्राप्त होता था। इन द्वीपों में भारतीय सूती कपड़ों की माँग बहुत अधिक थी और इनका मूल्य भी बहुत अधिक था। अतः यूरोपीय देश भारत से कपड़ों का आयात इन द्वीपों में करते थे और इसके बदले में मसालों का निर्यात यूरोप को करते थे। कुछ मात्रा में सूत्री वस्त्र भी प्रत्यक्ष रूप से यूरोप

[19] श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत

[20] ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, इलाहाबार, 1963

निर्यात किए जाते थे। यूरोपीय दशों में पुर्तगाल ने सर्वप्रथम भारत के साथ व्यापार के लिए सीधा सामुद्रिक मार्ग खोज निकाला। आगे चलकर, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड और फ्रांस भी इसमें सम्मिलित हो गये।[21]

1.19 मुगल मुद्रा प्रणाली

मुगलकालीन मुद्रा प्रणाली अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। सिक्के बनाने में तीन धातुओं का प्रयोग किया जाता था। ताम्बे का सिक्का दाम कहलाता था। चालीस दाम का मूल्य अकबर के समय में एक चाँदी के रूपये के बराबर था। बाद के काल में चाँदी के बाहुल्य और ताम्बे के मूल्य में वृद्धि क कारण यह अनुपात वास्तव में बना नहीं रह सका, बल्कि कवल सरकारी स्तर पर यह अंक मान्य रह गया। सोने का सिक्का मुहर या अशरफी कहलाता था। इसका प्रचलन आम नहीं था बल्कि यह धन–संचय करने के लिए उपयोगी था। बैंकिंग प्रणाली की रूप–रेखा भी विकसित हो चुकी थी। सर्राफ और महाजन आदि एक नगर से दूसरे नगर धन को भेजत थे। उसकी अदला–बदली करने का काम एक निश्चित मुआवजे पर किया जाता था। इसके लिए हुण्डी का प्रयोग आम रूप से होता था। व्यापारियों का सूद पर इन महाजनों द्वारा ऋण देने की भी व्यवस्था थी। कई मुगल सामन्त भी इन साहुकारों से ऋण लिया करते थे। मुगल व्यापारियों की ईमानदारी और उनकी कार्य–पद्धति की प्रशंसा विदेशी यात्रियों न भी की है।[22]

अतः मुगल काल में धन पर आधारित मुद्रा–प्रणाली काफी प्रगति कर चुकी थी। इसके बावजूद यहाँ पूँजी का विकास यूरोप के समान नहीं हुआ। इसके कारणों पर इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ के अनुसार मुगल शासन का स्वरूप और भारत के सामाजिक जीवन की विशेषताएँ इसके लिए बाधा बनी रहीं जबकि कुछ अन्य का विचार है कि मुगलकालीन आर्थिक विकास का क्रम अपने तार्किक निष्कर्ष तक पहुँच नहीं पाया क्योंकि बीच में ही यूरोपीय उपनिवेशवाद का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया। औनिवेशिक अर्थ–व्यवस्था से जुड़ जाने के बाद भारत की स्थिति बिल्कुल ही बदल गई।

1.20 निष्कर्ष

यूरोपीय देशों का भारत और अन्य पूर्वी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध सदियों पुराना है मगर इसके स्वरूप में 15वीं–16वीं शताब्दी में निर्णायक परिवर्तन आये। सबसे पहले, यूरोप और भारत के बीच व्यापार क लिए एक प्रत्यक्ष समुद्री मार्ग की खोज हुई, दूसर इस व्यापार में एशियाई व्यापारियां की जगह पर यूरापीय व्यापारियों की प्रधानता स्थापित हुई, तीसरे इस व्यापार क संचालन के लिए यूरोपीय शक्तियों द्वारा भारतीय तट पर सामरिक महत्व वाले क्षेत्रों पर अधिकार का क्रम आरम्भ हुआ, पाँचवे, इस व्यापार में यूरोपीय व्यापारियों द्वारा अपना एकाधिकार बनाय रखन अथवा सुविधानुसार शर्तों पर व्यापार करने के प्रयास आरम्भ हुए। इन कारणों से व्यापार अब सामरिक और राजनीतिक गतिविधियों से अभिन्न रूप से जुड़ गया। कालांतर में, इन्हीं परिस्थितियों ने भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना की पृष्ठभूमि भी तैयार की।

---

[21] अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्यकालीन भारत पृ0 240: लेटर मेडिवल इण्डिया, पृ0 12–13

[22] डा0 सैयद महमूद, इण्डियन रिव्यू, 1923, पृ0 499

व्यापार के इस नये रूप का विकास दो पृथक चरणों में हुआ। पहले चरण में पुर्तगालियों ने व्यापार मं पहल की। 1498 में वास्काडिगामा की सफल यात्रा न भारतीय व्यापार में पुर्तगालियां की अभिरूचि को बढ़ाया और 16वीं शताब्दी तक उन्होंने इस व्यापार पर वस्तुतः अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। पुर्तगालियों ने कालिकट मं 1500 में अपनी पहली फैक्ट्री भारत में स्थापित की। यह फैक्ट्रियाँ स्वायत्तशासी व्यापारिक केन्द्र थे जो एक देश के व्यापारियों द्वारा दूसरे देश में संगठित किये जाते थे। इसके लिए अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। ऐसे केन्द्रों के प्रधान व्यापारिक अधिकारी फैक्टर कहलाते थे। कालांतर मं पुर्तगालियों ने कोचिन (1501), क्वीलॉन (1503), दिऊ (1509), गोआ (1510), मलक्का (1511) और होर्मुज (1515) तथा बंगाल तट (1517) पर अधिकार कर लिया। गोआ का नगर भारत मं पुर्तगाली सत्ता का मुख्यालय बना और भारत में उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्र एक पृथक प्रशासनिक इकाई में परिवर्तित हो गये जो **"ईस्टाडो डा इण्डिया"** के नाम से विख्यात हुई। स्मरणीय है कि पुर्तगालियों का भारत मं प्रभाव मुगलों के आगमन के पूर्व ही स्थापित हो चुका था और इसमें कुछ उत्साही व्यापारियों और नौसैनिकों का योगदान रहा था जिन्हें न तो पुर्तगाल की सरकार का ही कोई विशेष समर्थन प्राप्त और न ही वे किसी संगठित व्यापारिक प्रतिष्ठान स जुड़े थे।

मुगल शासकों का पुर्तगालियों के साथ सम्पर्क अकबर के समय में स्थापित हुआ जब उसने धार्मिक प्रश्नों पर जानकारी के लिए पुर्तगाली पादरियों को अपने दरबार में निमन्त्रित किया। जल्दी ही मुगल दरबार में पुर्तगालियों को प्रभावशाली स्थान प्राप्त हा गया। फादर मौनसेरट, फादर एक्वावीवा आदि अकबर के साथ घनिष्ट सम्पर्क बनाए रखने में सफल रहे। अकबर भी पुर्तगालियों की सैनिक कार्यवाईयों से चिन्तित था और कहा जाता था कि उसकी दक्षिण नीति का एक उद्देश्य यह भी था कि पश्चिमी सागर तट पर नियन्त्रण प्राप्त करके पुर्तगालियों के उत्पात को समाप्त किया जाए। चूँकि दक्षिण में मुगल सत्ता का विस्तार अकबर के शासन–काल में अधूरा रहा, इसलिए पुर्तगालियों के विरूद्ध कार्रवाई का उसे अवसर प्राप्त नहीं हो पाया। वैसे भी यह संदिग्ध है कि नौसैनिक शक्ति के अभाव में मुगल पुर्तगालियों पर अंकुश लगाए रखने में सफल हो पाते। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि भूमि पर मुगल सेना इतनी शक्तिशाली थी कि पुर्तगालियों या अन्य यूरोपीय शक्तियों को अनुशासित कर सके मगर समुद्र–युद्ध में उनकी कमजोरी उन्हें पुर्तगालियों और अन्य यूरोपीय शक्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण करने से रोकती रही।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- चोपड़ा, पी0एन. आपसिट, पेज–6
- अशरफ, आपसिट, पेज–205
- बनारसी प्रसाद सक्सेना, शाहजहां ऑफ देहलीख पृ0 27
- श्रीवास्तव, एल0एल0, आपसिट, पृ0 27
- अशरफ, आपसिट, पेज–82
- यदुनाथ सरकार, आपसिट, पेज–135
- आइने अकबरी, भाग–3, कलकत्ता, 1872–73, पृ0 312
- इरफान हबीब, दी एग्रेरियन सिस्टम ऑफ दी मुगल्स, बम्बई, 1963, पेज–94

- उद्वत हरिशचन्द्र वर्मा, संपादक, मध्य कालीन खण्ड–2 (1540–1761), प्रथम संस्करण, 1963 हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विष्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पेज–443
- कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड–1, पृ0461
- इरफान हबीब, दी एग्रेरियन, आपसिट, पेज–343
- मोरलैण्ड, दि एग्ररियन, आपसिकट, पेज–96
- चोपड़ा, पी0एन., आपसिट, पेज–18
- फ्रेंकोस, पेल्सर्ट, जहांगीर्स इण्डिया, अनुवाद डब्लू0एच0 मोरलैण्ड तथा पी0गल0, दिल्ली, 1925
- कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑ इण्डिया, पु0 462
- रिजवी, मुगलकालीन भारत, भाग–1, पृ0 191–94
- सतीशचन्द्र, मेडिवल इण्डिया, पृ 29–46
- इरफान हबीब, द एग्रेरियन, आपसिट, पृ0 101
- ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, इलाहाबार, 1963
- अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्यकालीन भारत पृ0 240: लेटर मेडिवल इण्डिया, पृ0 12–13